तेरी–मेरी सबकी बात

बढ़ती आर्थिक असमानता : कैसा विकास ?

सामाजिक–आर्थिक–जाति जनगणना–वर्ष 2011 के आँकड़े इन दिनों अखबारों की मुख्य खबरों में हैं। 1934 के बाद व्यापक जनगणना के निष्कर्षों ने जनता और व्यवस्था के सामने बड़े सवाल खड़े कर दिये हैं। अफसोस इस बात का है कि इस जनगणना के नतीजों पर जो चर्चा होनी चाहिये थी, वह कहीं नहीं है। सामाजिक–आर्थिक स्थितियों के साथ, विशेष रूप से ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सामाजिक स्वरूप पर जो चिंता होनी चाहिये वह न तो सरकार के प्रतिनिधियों, संस्थाओं और न ही शैक्षिक जगत में और बुद्धिजीवियों के बीच दिखाई दे रही है।

दरअसल चिंता और सरोकारों के धरातल बदल गये हैं। चर्चा तो योग पर हुई, कौन–कौन इस राष्ट्रीय कार्यक्रम में दिखाई दिया और कौन नहीं, इस पर नजरें रहीं। भारत कब विश्वगुरु बनेगा... इस पर बहस की गयी है लेकिन इस जनगणना ने भारत की जो असली तस्वीर सामने रखी, उससे तो किसी भी संवेदनशील नागरिक का सिर झुकेगा। योग और आध्यात्म का गुरु तो बन गये लेकिन साथ ही गरीबी, बदहाली, बेकारी, बीमारी और भूख में भी बहुत आगे आ गये। अपने पड़ोसी बांगला देश, नेपाल जैसे छोटे देशों ने पिछले सालों में संयुक्त राष्ट्र के 'मिलेनियम डेवलपमेंट गोल' के लिये निर्धारित मानकों तक पहुँचने की तेजी से कोशिश की है। ब्रिक्स देशों के बीच भी जन कल्याण के मानकों में हम नीचे हैं। चीन और रूस को तो छोड़ दीजिये ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका जैसे छोटे देशों से भी हम निम्न स्तर पर हैं।

आज देश की लगभग 70 प्रतिशत जनता ग्रामीण है। इस ग्रामीण जनता में 30 प्रतिशत परिवार भूमिहीन हैं। यद्यपि जनगणना 2011 के जातिगत आँकड़े प्रकाशित नही किये हैं लेकिन माना जाता है कि अधिकांशतः ये भूमिहीन अनुसूचित जाति समूह से ही है। लगभग 28 प्रतिशत परिवार सरकार द्वारा निर्धारित गरीबी स्तर पर बसर करते हैं अर्थात गरीबी की रेखा से नीचे हैं जिनकी मासिक आय 816 रु. प्रति व्यक्ति प्रतिमाह है। ये परिवार केवल श्रमिक के रूप में ही जीवन बसर करते हैं।

इसी जनगणना के अनुसार 36 प्रतिशत ग्रामीण आबादी निरक्षर है। ध्यान रखने की बात ये है कि आज भी हमारे मानकों में अक्षर जोड़–जोड़कर हस्ताक्षर करने वाला साक्षर माना जाता है। शेष 64 प्रतिशत साक्षर समझी जाने वाली आबादी में बड़ी संख्या उनकी है जिन्होंने प्रायमरी तक पढ़ाई भी नहीं की है। केवल 5.4 प्रतिशत ग्रामीण हाईस्कूल उत्तीर्ण हैं और 3.4 प्रतिशत ने कालिज का मुँह देखा है। राजस्थान जैसे राज्य में निरक्षर ग्रामीणों का प्रतिशत लगभग 48 प्रतिशत है।

भारत की बदहाली और पिछड़ापन शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार जैसे क्षेत्रों में निरंतर बढ़ रहा है जो इस जनगणना के माध्यम से तथा अन्य मानक सर्वेक्षणों के आधार पर सामने आया है और पहले भी आता रहा है। दिलचस्प है कि इस जनगणना के प्रकाशन से एक दिन पहले एक और समाचार जो प्रमुखता से छपा था उसके अनुसार देश की अर्थव्यवस्था उछाल पर है और जी.डी.पी. 2 खरब डालर के स्तर पर आ गयी है। यानि 2008 के विश्वव्यापी अर्थसंकट के बाद 1 खरब डालर से यह बढ़कर 2 खरब डालर तक पहुँची है। इसके बावजूद हिन्दुस्तान की अधिसंख्य जनता निम्नमध्यवर्ग श्रेणी में ही है जहां प्रति व्यक्ति वार्षिक आय अभी भी 1,610 डालर, यानि लगभग 1 लाख रु है (टी.सी.ए. शरद राघवन– द हिन्दू, 3 जुलाई, 2015)। इसी के साथ दृष्टव्य है कि 'ग्लोबल वेल्थ डाटाबुक' के अनुसार देश की कुल व्यक्तिगत संपदा का लगभग आधा (49 प्रतिशत) देश के मात्र एक प्रतिशत

सुपरधनिकों के पास है। 99 प्रतिशत जनसंख्या के पास शेष आधी संपदा है। 10 प्रतिशत सर्वोच्च अमीर लोगों की संपति की गणना करें तो यह कुल संपदा का 74 प्रतिशत पर कब्जा किये हुए लोग हैं। अब शेष 90 प्रतिशत के बीच बची एक चौथाई संपदा ही गुजर–बसर के लिये है (मिहिर शाह– द हिन्दू, 4 जुलाई, 1915)। इसी रिपोर्ट को आगे देखेंगे तो दुनिया के निर्धनतम लोगों में हिन्दुस्तानी 20 प्रतिशत हैं। अर्थात दुनिया का हर चौथा निर्धनतम अपने देश से आता है। चीन से लगातार हम तुलना करते हैं तो वहां यह प्रतिशत मात्र 3 का है। देश के विकास की गति की अगर हम बात करें तो आँकड़े स्पष्ट कर रहे हैं कि देश में आर्थिक असमानता लगातार बढ़ रही है। देश के सबसे अमीर 10 प्रतिशत परिवारों की संपदा में सन् 2000 से लेकर जो इज़ाफा हुआ वह देश की कुल संपदा का 66 प्रतिशत से बढ़कर अब 74 प्रतिशत हो गया। सर्वोच्च 1 प्रतिशत धनिकों की संपदा जो 2000 में कुल संपदा का 37 प्रतिशत थी, अब 49 प्रतिशत हो गयी।

यह भीषण बढ़ती असमानता साधारणजन की बढ़ती बदहाली, बेरोजगारी, भूख, स्वास्थ्य सेवाओं से तथा शिक्षा से वंचन में दिखाई देती है। यह असमानता बहुमुखी है। वर्ग, जाति, लिंग, क्षेत्र, धार्मिक और जनजातीय समूहों के बीच यह आर्थिक असमानता शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि सभी स्तरों पर स्पष्ट दिखाई देती है। इनमें से सबसे अधिक त्रस्त आदिवासी हैं जो हर स्तर पर सुविधाहीन हैं और सत्ता–व्यवस्था द्वारा लगातार बेदखल होते हुए विलुप्त होने की कगार पर हैं।

यहां पर यह कहना जरूरी है कि जनगणना से निकलने वाले ये नतीजे 2011 के सर्वेक्षण पर आधारित हैं। इससे पहले 2004 की एन.डी.ए. सरकार का एक कार्यकाल और इमरजेंसी के बाद संयुक्त जनता दल की सरकार के अल्पकाल को छोड़ दें तो अधिकांश अवधि में कांग्रेस की सरकार ही रही है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक से उदारीकरण की नयी आर्थिक नीतियां बनी और निजीकरण का जो दौर शुरू हुआ उसके ये परिणाम होने ही थे। इस जनगणना ने सरकारों के बड़े–बड़े दावों और नारों की पोल खोल दी है। इसीलिये हर राजनैतिक दल चाहे सत्ता में हो या विपक्ष में जनगणना के इन नतीजों पर मौन है।

ग्रामीण जनता जो कुल आबादी का लगभग 70 प्रतिशत है, उसकी बदहाली का सबसे बड़ा कारण है कृषि क्षेत्र के प्रति सरकारों की उदासीनता। दरसअल बीसवीं सदी के अंतिम दशक से ही हमारी अर्थव्यवस्था का संचालन, वर्ल्ड बैंक और इंटरनेशनल मॉनीटरी फंड जैसी वैश्विक वित्तीय संस्थाओं के निर्देशों पर होने लगा। सुयोग्य अर्थशास्त्री डा. मनमोहन सिंह स्वयम् वर्ल्ड बैंक से संबंधित रहे। अटल जी की सरकार में तो वाकायदा विनिवेश मंत्रालय ही बना दिया गया और सार्वजनिक संस्थाओं को बेचने की प्रक्रिया तेज हो गयी। अब वर्तमान मोदी सरकार में भी सुयोग्य अर्थशास्त्री अमरीका से बुलाये गये हैं जो केवल पूँजीपतियों के हितसाधन के लिये प्रतिबद्ध हैं।

वर्तमान सरकार को 2011 की जनगणना के आंकड़ों को गंभीरता से लेना चाहिये लेकिन आर्थिक नीतियां जो स्वरूप ग्रहण कर रही हैं वो लगातार आम आदमी को नज़रअंदाज कर रही हैं और बड़े पूंजीपति घरानों की समृद्धि का एक नया दौर शुरू हो रहा है। वर्तमान सरकार ने सत्ता में आते ही प्राथमिकता के स्तर पर जो काम किया वह है देश की समस्त जन–कल्याणकारी योजनाओं में अभूतपूर्व कटौती। इनमें वे सभी कार्यक्रम और योजनाएं हैं जो देश की गंभीर समस्याओं के निदान के लिये चलायी जा रही थीं। इनमें शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि–रोजगार, खाद्य सुरक्षा, पेयजल प्रबंधन, पंचायती राज के सुदृढ़ीकरण के अलावा अनुसूचित जाति–जनजाति समूह के उत्थान के लिये कार्यक्रम हैं। जन–कल्याण क्षेत्र की ये कुल कटौतियाँ लगभग एक लाख पचहत्तर हजार करोड़ की हैं। (जी. संपत–लेख 'द हिन्दू' 26 मई, 2015) इन कटौतियों के अलावा एक और नये एजेंडे को व्यवहारिक स्वरूप

लेना है और वह है मनरेगा एक्ट, सार्वजनिक (खाद्य) वितरण व्यवस्था तथा अन्य ऐसी ही योजनाओं को समाप्त करना। कहा जा रहा है कि उनका स्थानापन्न प्रधानमंत्री जनधन योजना, प्रधानमंत्री जीवन ज्योति बीमा योजना, प्रधानमंत्री सुरक्षा बीमा योजना और अटल पेंशन योजना होंगी। सबसे दुखद यह है कि आज सत्ता वर्ग द्वारा जनकल्याण और सामाजिक विकास के मुद्दों पर तथ्यात्मक चर्चा न होकर सिर्फ नारे बाजी के द्वारा प्रचार किया जा रहा है।

इन कटौतियों का असर शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में विशेष रूप से महिला और बाल कल्याण योजनाओं पर पड़ेगा। आज भी कहा जाता है कि भारत में 70 प्रतिशत सामान्य और 74 प्रतिशत गर्भवती स्त्रियां कुपोषित हैं। दुनियां में कुपोषण से पीड़ित कुल बच्चों का एक तिहाई कुपोषित बच्चे भारत में हैं। 6 वर्ष तक के कुपोषित बच्चों और दूध पिलाने वाली मांओं को पोषण तथा अन्य स्वास्थ्य सुविधाएं देने वाली परियोजना 'आई.सी.डी. एस. (समेकित बाल विकास सेवा) के बजट में 18195 करोड़ रु. में 55 प्रतिशत की कटौती करके इसे 8335 करोड़ 77 लाख कर दिया गया। इसी तरह मिड डे मील का बजट जो 2014–15 के लिये 13215 करोड़ रूपये था उसे 33 प्रतिशत घटाकर 9232 करोड़ कर दिया गया। गांवों के तथा गरीब बच्चों के कुपोषण को दूर करने के अलावा मिड डे मील कार्यक्रम ने स्कूलों में बच्चों की संख्या बढ़ाने के लिये प्रेरक का काम किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की 2014 की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि अगर भारत प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष 5 डालर स्वास्थ्य बजट में बढ़ा ले तो 14 करोड़ 70 लाख बच्चों को और 50 लाख मांओं को प्रतिवर्ष मरने से बचाया जा सकता है। यूं भी स्वास्थ्य के क्षेत्र में 70 प्रतिशत से अधिक स्वास्थ्य सेवा निजी क्षेत्र द्वारा दी जाती हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य सेवा, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में निपट बदहाली की स्थिति में होती हैं। चाहे सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र हों, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र हों या उपस्वास्थ्य केंद्र, न वहां डॉक्टर होते, न आवश्यक स्टाफ, न उपकरण और न दवाओं की समुचित व्यवस्था। शहरी क्षेत्रों में भी आबादी को देखते हुए जो सरकारी स्वास्थ्य सेवायें हैं वो बेहद अपर्याप्त होती हैं। प्राइवेट डॉक्टर और नर्सिंग होम लूट का केंद्र बने हुए हैं। एक मामूली निम्नमध्यवर्गीय परिवार का कोई सदस्य (विशेष रूप से पुरुष सदस्य) किसी गंभीर बीमारी की चपेट में आ जाता है और निजी क्षेत्र में इलाज कराता है तो निश्चित है कि वह लंबे चौड़े कर्ज में डूबेगा और अंततः गरीबी की रेखा पर आ गिरेगा। परिवार की महिला सदस्य पर तो शायद कोई परिवार हो जो हैसियत से बाहर जाकर इलाज में खर्च करेगा। इस मंहगे इलाज के दौरान बच्चों की (विशेष रूप से लड़कियों की) पढ़ाई बाधित होती है और वे रोजगार की जुगत में लगते हैं। स्त्रियां तो स्वास्थ्य के मामले में सबसे नीचे स्तर पर होती हैं। सब–सहारा अफ्रीकी देशों की स्त्रियों से बदतर उनकी स्थिति आंकी गयी है। प्रसव के दौरान होने वाली मातृ मृत्युदर और नवजात शिशु मृत्युदर भी दुनिया के पैमाने पर सबसे खराब स्थिति में है। संयुक्त राष्ट्र संघ के 'मिलेनियम डेवलपमेंट गोल' के अनुसार 2015 तक जिस स्तर तक मातृमृत्यु दर और नजवात शिशु मृत्युदर को कम करने का लक्ष्य रखा गया था अभी भी भारत उससे कहीं पीछे है। इसको देखते हुए यह चिंताजनक है कि एन.आर.एच.एम. (राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन) का बजट जो 2014–15 के लिये 24491 करोड़ रखा था, उसे घटाकर 2015–16 के लिये 18295 करोड़ कर दिया गया है।

ध्यान देने योग्य बात है कि भारत का स्वास्थ्य बजट ब्रिक्स देशों की तुलना में सबसे कम है। यह घटते–घटते आज जी.डी.पी. का मात्र 1.04 प्रतिशत ही है। इसकी तुलना में चीन 5.5, दक्षिण अफ्रीका 8.8 तथा ब्राजील 9.3 प्रतिशत अपने नागरिकों के स्वास्थ्य पर खर्च करता है।

गरीबी और बदहाली की स्थितियों से जहां शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे विषय जुड़े हैं वहीं इसका संबंध प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से अपराधों के और बलात्कार जैसे प्रकरणों से भी जुड़ा है। बड़ी संख्या में रोजगार की तलाश में गरीब आबादी देश के एक छोर से दूसरे छोर पर पहुंच जाती है। एक ओर इससे स्थानीय श्रमिकों की स्थिति पर असर पड़ता है और वे इन 'बाहरी' श्रमिकों के विरुद्ध हो जाते हैं। उत्तर–पूर्वी राज्यों में 'बाहरी' कामगारों के प्रति गहरा असंतोष अक्सर हिंसात्मक हो जाता है। दूसरी ओर गांव–देहात से आये नौजवान शहरों में रोजगार के लिये भटकते हैं। छोटा–मोटा रोजगार पा भी लिया तो उनकी आर्थिक स्थिति केवल पेट भरने लायक होती है। एक ओर आर्थिक अव्यवस्था–बेरोजगारी तो दूसरी ओर शहरी चकाचौंध और भरे–पूरे बाजार। वे तनाव और कुंठा का शिकार भी होने लगते हैं। यौन हिंसा, बच्चियों से नृशंस बलात्कार प्रकरणों में अक्सर ऐसे विस्थापित श्रमिक–नौजवान पकड़े गये हैं।

गांवों से ऐसे पलायन को रोकने के लिये मनरेगा योजना ने बहुत राहत दी। कम से कम 100 दिन के रोजगार की गारंटी तो हुई। लेकिन वर्तमान मोदी सरकार मनरेगा योजना को समाप्त करना चाहती है। वर्ष 2014–15 का मनरेगा का बजट जो 34 हजार करोड़ रखा था, उसमें 3 हजार करोड़ की कटौती कर दी गयी। पारिश्रमिक में मजदूरी और सामग्री का अनुपात जो 60 और 40 का था उसमें से मजदूरी का अनुपात घटाकर सामग्री का बढ़ा दिया गया। बजट की धनराशि चालू करने में भी विलंब किया गया।

खाद्य सुरक्षा अधिनियम के अंतर्गत सरकारी सस्ते गल्ले की दुकानों को खत्म कर कैश सबसिडी की योजना बनी है। सरकारी दुकानों से राशन–कार्ड पर गेहूं वगैरह की मात्रा भी लगातार कम की जा रही है। शांता कुमार कमेटी ने भोजन के अधिकार कानून की समीक्षा रिपोर्ट में 67 प्रतिशत लाभार्थी आबादी को घटाकर 40 प्रतिशत करने की सिफारिश की है।

किसानों के साथ तो हर सरकार का सौतेला व्यवहार रहा है। कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश और सबसिडी खत्म कर दिये जाने से आज खेती में लागत बढ़ गयी है। खाद, पानी, बीज, बिजली आदि पर अब सरकारी सहायता नहीं दी जाती। कृषि अब घाटे का सौदा साबित हो रही है। सूखा या बाढ़–अतिवर्षा की स्थिति में राहत के लिये केवल दिखावे की घोषणाएं होती हैं लेकिन सरकारें आंखें मूंद कर बैठी रहती हैं। अभी दिसंबर 2014–जनवरी 2015 में अतिवृष्टि और ओलों की मार से जो फसलें नष्ट हुई उसमें घोषणायें तो हुईं लेकिन नुकसान की भरपाई के नाम पर किसानों के साथ मजाक हुआ। नेशनल सैंपल सर्वे के अनुसार वर्ष 1991 से दिसंबर 2012 तक 1 करोड़ 50 लाख किसान खेती छोड़ चुके हैं और अधिकांश के पास मजदूरी के अलावा और कोई विकल्प नहीं रहा है। प्रेमचंद के गोदान में तो होरी छोटा किसान था जो कर्ज में डूब कर मर जाता है और उसका पुत्र गोबर शहर का रास्ता पकड़ता है मजदूर बनने के लिये। 1930 से आज की स्थितियां और विकराल हुई हैं। तब लगान वसूली को अंग्रेजी सरकार थी और गांव में शोषक महाजन था। अब अपनी जनतांत्रिक सरकार है और उसके बगलगीर पूंजीपति हैं–कारपोरेट जगत है। नेशनल क्राइम रिपोर्ट ब्यूरो की 2014 की एक रिपोर्ट के अनुसार 1995 से 2013 तक लगभग 3 लाख (2,98,438) किसान आत्महत्या कर चुके हैं। सी.एस.डी.एस. की 2014 की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि 76 प्रतिशत किसान खेती छोड़ना चाहते हैं। यूं भी कृषि का बजट 2014–15 की तुलना में 2015–16 के लिये 10.4 प्रतिशत कम हो गया है।

देश में अशिक्षा और निरक्षरता को गंभीरतापूर्वक संज्ञान में लेते हुए 'शिक्षा का अधिकार' स्वीकार किया गया था। अनेक गैर सरकारी संगठन इसके लिये लंबे समय से प्रयास कर रहे थे। मिड डे मील का प्रावधान भी इसके साथ हुआ जिसके लिये उच्चतम

न्यायालय को भी लगातार कड़े निर्देश जारी करने पड़े थे। सर्वेक्षणों के आधार पर इसके उत्साहजनक नतीजे आये, स्कूलों में बच्चों की संख्या बढ़ी और ड्रॉय आउट्स की संख्या में भी कमी हुई। यह एक कल्याणकारी कार्यक्रम था जो प्रधानमंत्री बाजपेई की सरकार ने शुरू किया था। अब इसमें 13,000 करोड़ से बजट घटाकर 9,000 करोड़ करना चिंता की बात है।

इसी तरह 2013 में राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम पारित हुआ। तभी से इसके प्रावधानों को और विस्तारित करने की मांग की जा रही थी। विश्वस्तर पर इसकी प्रशंसा भी हुई और इसे भूख के विरुद्ध लगातार चलने वाले अभियान के रूप में लिया गया। लेकिन अब इसे भी कटौती द्वारा सीमित किया जा रहा है जो देश के कुपोषित, भूख से पीड़ित करोड़ों लोगों को मरने के लिये छोड़ देना जैसा है।

दरअसल चाहे रोजगार गारंटी बिल हो, शिक्षा का अधिकार बिल हो, खाद्य सुरक्षा बिल हो और चाहे सूचना का अधिकार बिल हो, ये सभी देश के संविधान द्वारा प्रदत्त नागरिक अधिकार हैं जो देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करते हैं। इन कानूनों के द्वारा गरीब आदमी के लिये सत्ता–व्यवस्था ने चिंता दिखाई और शिक्षा, रोजगार और भोजन की व्यवस्था कर उन्हें सम्मान से जीने का अवसर देने का प्रयास किया। दरअसल जिस गरीब और वंचित वर्ग के लिये कानून द्वारा यह कार्यक्रम बने, वे न तो वोट बैंक के रूप में सहायक हो सकते हैं और न ही जनता का वह मुखर समूह बनने की हैसियत रखते हैं जिनकी जयकारों से किसी सरकार की लोकप्रियता का प्रदर्शन होता है। निश्चित रूप से जो सरकार की लोकप्रियता का मुखौटा बनते हैं वो मध्यवर्ग है, विश्वविद्यालयों, आई.आई.टीयों, प्राइवेट संस्थानों–कालेजों से निकला मध्यवर्गीय युवा है। गरीबों के नाम पर जो बैंक खातों के रूप में योजनाएं शुरू की गयी उनमें एक रिपोर्ट के अनुसार अधिकांश खातों में 31 मार्च 2015 तक कोई उल्लेखनीय रकम (58 प्रतिशत) नहीं आयी थी। दरअसल ये योजना मृत्यु और दुर्घटना या 50/ 70 साल की उम्र के बाद सहायता का इंतजाम करती है। एक तरह से बीमा योजना है जिसमें सामाजिक सुरक्षा का दायित्व स्वयम् उपभोक्ता का है। इन खातों में कैश सबसिडी चाहे गैस की हो अथवा अनाज की, का प्रावधान है लेकिन सबसे जरूरी है गरीब आदमी को अनाज मुहैया कराना, जीने का आधार देना। अर्थशास्त्रियों का यह भी कहना है कि क्योंकि ये योजनाएं आम नागरिक के संवैधानिक अधिकार के अंतर्गत नहीं आतीं तो जरूरत पड़ने पर कभी भी उन्हें समाप्त किया जा सकता है। जैसे एन.डी.ए. के कार्यकाल में पेंशन योजना को समाप्त कर दिया गया। पेंशन एक ऐसा माध्यम है जो आदमी को रिटायरमेंट के बाद सम्मान से जीने का भरोसा देता है।

इसलिये अगर आम आदमी की भूख, बेरोजगारी, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के प्रति सरकार और बुद्धिजीवी संवेदनशील नहीं होंगे तो देश में सिर्फ आध्यात्म ही बचेगा कि–'जीना–मरना सब ऊपर वाले के हाथ में है.... और कि–'जेहि विधि राखिये राम–तेहि विधि रहिये।' धर्मगुरुओं के उपदेशों का यही सार है।